IJCRM
International Journal of Contemporary Research In Multidisciplinary

Research Article

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्य-चिंतन:दृष्टि और महत्व

प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी
प्रोफेसर, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा तथा पत्रकारिता विभाग
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय ,गोरखपुर,उत्तर प्रदेश,भारत

Corresponding Author: * प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी

DOI: https://doi.org/10.5281/zenodo.20485184

सारांश

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी आलोचना और काव्यचिन्तन के इतिहास में एक युगप्रवर्तक विचारक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य को स्वतंत्र काव्यशास्त्रीय आधार प्रदान करते हुए भारतीय परम्परा और पाश्चात्य चिंतन के मध्य समन्वय स्थापित किया। शुक्लजी ने रीतिवाद, कलावाद, रहस्यवाद, अभिव्यंजनावाद तथा व्यक्तिवैचित्र्यवाद जैसी प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए लोकमंगल को साहित्य का सर्वोच्च उद्देश्य माना। उनके अनुसार कविता केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि मानव हृदय की मुक्तावस्था, भावयोग तथा लोकसत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करने का माध्यम है। उन्होंने कविता को लोकजीवन, लोकधर्म, लोकहृदय और विश्वमानवता से जोड़ते हुए साहित्य की सामाजिक उपयोगिता पर बल दिया। रस, साधारणीकरण, कल्पना, प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास संबंधी उनके विचार भारतीय काव्यशास्त्र को नवीन दिशा प्रदान करते हैं। शुक्लजी की दृष्टि में काव्य का अंतिम लक्ष्य मानव हृदय का विस्तार, लोकमंगल की स्थापना तथा समस्त सृष्टि के साथ रागात्मक संबंधों का विकास है। प्रस्तुत अध्ययन में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के काव्यचिन्तन, काव्य-प्रयोजन, रस-सिद्धान्त, लोकमंगलवाद, कल्पना तथा काव्य-हेतु संबंधी अवधारणाओं का विश्लेषणात्मक विवेचन किया गया है।

Manuscript Information

- **ISSN No:** 2583-7397
- **Received:** 01-01-2025
- **Accepted:** 25-02-2025
- **Published:** 28-02-2025
- **IJCRM:**4(1); 2025: 281-289
- **©2025, All Rights Reserved**
- **Plagiarism Checked:** Yes
- **Peer Review Process:** Yes

How to Cite this Article

प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्य-चिंतन:दृष्टि और महत्व . Int J Contemp Res Multidiscip. 2025;4(1):281-289.

Access this Article Online

www.multiarticlesjournal.com

कुंजी शब्द: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काव्यचिन्तन, लोकमंगल, रस-सिद्धान्त, साधारणीकरण, कल्पना, प्रतिभा, भावयोग, हिन्दी आलोचना, काव्यशास्त्र।

© 2025 प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

परिचय

हिन्दी काव्यचिन्तन के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्यचिन्तन हिन्दी स्वतंत्र काव्यशास्त्र के निर्माण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। उनके शब्द एवं कर्म में पहली बार हिन्दी के स्वतंत्र आलोचना शास्त्र का संकल्प दिखाई देता है, जिसका प्रमाण उनके निम्नलिखित कथन है-

१. "जैसे भाषा का पूरा अभ्यास और उस पर अच्छा अधिकार रखने वाले प्राचीन और नवीन साहित्य के स्वरूप को ठीक-ठीक परखने वाले अनेक लेखकों द्वारा हमारा साहित्य पुष्ट और प्रौढ़ हो चला, वैसे ही केवल पाश्चत्य साहित्य के किसी कोने में आंख खोलने वाले और योरप की हर एक नई पुरानी बात को 'आधुनिक' कहकर चिल्लाने वाले लोगों के द्वारा बहुत कुछ अनधिकार चर्चा-बहुत-सी अनाड़ीपन की बाते फैल चलीं हैं।"

२. "इस दूसरे ढांचे के लोग योरप की सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर उठे हुए नाना वादों और प्रवादों को लेकर और उनकी उक्तियों के टेढ़े-सीधे अनुवाद की उद्धरणी करके ही अपने को हमारे वास्तविक साहित्य निर्माताओं से दस हाथ आगे बता चले।"

३. "इनके कारण हमारा सच्चा साहित्य रुका तो नहीं, पर व्यर्थ की भीड़-भाड़ के बीच ओट में अवश्य पड़ता रहा। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या निबंध, क्या समालोचना, क्या काव्य-स्वरूप मीमांसा, सब के क्षेत्रों के भीतर कुछ विलायती मंत्रों का उच्चारण सुनाई पड़ता आ रहा है।"

४. "इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो अपने जन्मस्थान में अब नहीं सुनाई पड़ते । हंसी तब आती है जब कुछ ऐसे व्यक्ति भी 'मध्ययुग की प्रवृत्ति', 'क्लासिकल', 'रोमांटिक इत्यादि शब्दों से विभूषित अपनी आलोचना द्वारा 'नये युग की वाणी' का संचार समझाने खड़े होते हैं, जो इन शब्दों का अर्थ जानना तो दूर रहा, अंग्रेजी भी नहीं जानते।"

५. "एक दूसरा आता है जो दया वाले सिद्धांत के विरुद्ध योरप का साम्यवादी सिद्धांत ला भिड़ाता है और फिर कहता है कि गरीबों का रक्त चूसकर उन्हें अपराधी बनाना और फिर बड़ा बनकर दया दिखाना तो उच्च वर्ग के लोगों की मनोवृत्ति है।"

इसमें सन्देह नहीं कि वे पाश्चात्य जगत की वैचारिक पृष्ठभूमि से प्रगाढ़ रिश्ते के विरोधी नहीं है। उन्होंने हिन्दुस्तान रिव्यू में 'व्हाट हैज इण्डिया टु डू?' नामक लेख लिखा तो एडिसन के 'एसे आन दिइमेजिनेशन' का 'कल्पना के आनन्द' नाम से, एडविन आर्नाल्ड के 'लाइफ ऑफ एशिया' का 'बुद्धचरित' के नाम से अनुवाद किया, हैकल की पुस्तक का 'विश्वप्रपंच' नाम से अनुवाद किया है और उसकी विस्तृत भूमिका भी लिखी और इस पुस्तक के विषय में स्थापना दिया कि 'लोक व्यवहार और समाज विकास की दृष्टि से धर्म और आचार की व्याख्या की गयी है, परलोक और अध्यात्म की दृष्टि से नहीं और इसी पुस्तक में उन्होंने डार्विन, हक्सले, लार्ड केलावीन, जेम्स, स्पेन्सर, स्पिोजा, डेकार्ट, काण्ट, हीगल, शेलिंग, शोपेनहावर हेमिल्टन आदि के विचारों पर मंथन भी गहन रूप से किया है। इनका प्रभाव उनके वैचारिक जगत पर दिखाई भी देता है, किन्तु वे इनसे न तो अभिभूत हैं और न ही पराभूत बल्कि एक स्वतंत्र, स्वाधीन दृष्टि का जागरुक लोकवादी चिन्तक उनमें सदैव सक्रिय एवं सार्थक रूप में विद्यमान है। उन्होंने प्रतीकवाद, शास्त्रीतावाद, बिंबवाद, प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद, स्वच्छन्दतावाद जैसे पश्चिमी विचारधारा पर तीखी बहस की शुरुआत भी किया, किन्तु पाश्चात्य चिन्तन के उमड़ते गर्द-गुबार को रोकने के लिए अपनी पूरी शक्ति भी लगा दिया। योरोपियन नकल पर आधारित प्रभावाभिव्यंजक लेखन को पथभ्रष्ट कहा- 'प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठौर-ठिकाने की वस्तु नहीं है। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या अलोचना कहना ही व्यर्थ है।" तो रीतिवादी एवं कलावादी मूल्य दृष्टि पर आधारित चिन्तन को नकारकर लोकमंगलवादी कला दृष्टि का अविष्कार किया और इसके लिए उन्होंने साहित्य को 'ज्ञान की अनेक खिड़कियों' से देखने का विचार दिया। इसके लिए उन्होंने सर्वप्रथम रूढिवादी एवं रीतिवादी संस्कारों पर प्रबल आघात किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी रीतिवादी रूढ़ियों पर तीव्र आघात किया था, किन्तु शुक्लजी का आघात ज्यादा मारक है। उन्होंने 'कविता क्या है' निबन्ध में स्पष्टतः कहा कि, 'बहुत दिनों से बहुत-से लोग कविता को विलास की सामग्री समझते आ रहे हैं। हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानों राजाओं-महाराजाओं की कामवासना उत्तेजित करने के लिए रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे, पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुस्खें भी कवि लोग तैयार करने लगे।' उन्होंने रूढ़िवादी कविता के शास्त्र को अस्वीकार कर दिया, पूरे साहस एवं विवेक के साथ । **कुछ विचार द्रष्टव्य है-**

१."काव्य-रीति का निरूपण थोड़ा बहुत सब देशों के साहित्य में पाया जाता है। पर हमारे यहां के कवियों को रीति-ग्रन्थों ने जैसा चारों आरे से जकडा है वैसा और कहीं के कवियों को नहीं।"

२."प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन का हिन्दी काव्यों में जो अभाव पाया जाता है, उसका मुख्य कारण यही है।"

३."कुछ बातें कवि ने कहीं और कुछ बातें नायिका, अलंकार आदि का इशारा पाकर पाठक आप लगा लेने लगे। इस प्रकार उस स्वरूप - चित्रण से बहुत कुछ छुट्टी पा जाने से लोग पदक्रीड़ा में प्रवृत्त हुए, वर्ण्य वस्तुओं को गिनाने और उनका वर्गीकरण करने से बाह्य और आभ्यान्तर दोनों सृष्टियों की अनेकरूपता का काव्यों में अभाव-सा हो चला।"

४."उद्दीपन की कुछ वस्तुओं के गिनने और नायक-नायिका के धीराधीर, धीरोदात्त इत्यादि भेद-निर्दिष्ट करने से दोनों ओर की एकता पर पर्दा सा डाल दिया गया। धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त, जो चार प्रकृति के नायक कहे गये हैं, क्या उनमें उतनी प्रकृति के मनुष्य हो सकते हैं या सब आ जाते हैं? विविध प्रवृत्तियों के मेल में संघटित जो अनेक स्वभाव के मनुष्य दिखाई पड़ते हैं, उनके स्पष्टीकरण के लिए मानव प्रकृति के अन्वीक्षण की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता उक्त चार प्रकार के ढांचे तैयार मिलने से पिछले कवियों को न रह गई। सारांश यह कि नायक-नायिका भेद चरित्र-चित्रण में सहायक नहीं हुए, बाधक हुए।"

५."लीक पीटने की शिक्षा रीति-ग्रन्थ लिखने वाले आचार्यों ने ही दी, यह बात कुछ अलंकारों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाती है।"

© 2025 प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

६."किसी आचार्य ने कह दिया क महाकाव्य में इतने सर्ग होने चाहिए और इन-इन वस्तुओं का वर्णन होना चाहिए। फिर क्या था, जिसे महाकाव्य लिखने का हौंसला हुआ, उसे झख मारकर इन सब वस्तुओं का वर्णन करना पड़ा, चाहे कथा के प्रसंग में किसी-किसी वस्तु की आवश्यकता बिलकुल न हो।

७. "इसी हल्केपन के कारण भाटों और कवियों में कोई भेद न रह गया।"

८. "कला निपुणता तथा सहदयता का झूठा-व्यापार भी चल पड़ा।

९. "लक्षण ग्रन्थों की भरमार हो जाने से हल्के किस्म के हृदयहीन लोग भी 'कवि' होने का दावा करने लगे। १५

इन कमियों ने शुक्लजी को हिन्दी के स्वतंत्र काव्यचिन्तन की दिशाओं की ओर अग्रसर किया। इसके लिए उन्होंने परम्परा का विस्तार किया, तो अनेक पाश्चात्य विचारों पर गम्भीर विश्लेषण भी किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कविता 'कविता हृदय की मुक्तावस्था', 'प्रभावित होने की दशा', 'अनुभूतिदशा', अनुभूतियोग, 'लोकहृदय में लीन होने की दशा', रसदशा, रसानुभूति है, भाग योग है जो कर्मयोग एवं ज्ञानयोग से पीछे नहीं है, बल्कि समकक्ष है।

कविता का स्वरूप एवं प्रयोजन एव लोक:

आचार्य शुक्ल की काव्य विषयक मान्यताओं का विवेचन 'कविता क्या है', काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद, रसात्मकबोध के विविधरूप, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद जैसे निबन्धों एवं मनोविकार विषयक निबन्धों में व्याप्त है। उनकी काव्य सम्बन्धी स्थापना को समझने के लिए 'कविता क्या है' निबन्ध से निम्नलिखित विचार द्रष्टव्य हैं, जो महत्त्वपूर्ण है-

'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है, हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है, इस भूमि पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकता है। इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविकास का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा का निर्वाह होता है।

प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का एक मुख्य अंग है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों कवियों के लिए काम बढ़ता जायगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखने वाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पदों को हटाना पड़ेगा। इससे स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जायेंगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जाएगा।

काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है। हृदय पर नित्य प्रभाव रखनेवाले और व्यापारों की भावना को सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तः प्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसके भावात्मक सत्ता के प्रकार का प्रसार करती है।

कविता तो भाव प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।

मनुष्य की चेष्टाओं और कर्मकलाप से भावों का का मूल- सम्बन्ध निरूपित हो चुका है और यह भी दिखाया जा चुका है कि कविता इन भावों या मनोविकारों के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई इनका प्र नका प्रसार करती है। पशुत्व में मनुष्यत्व में जिस प्रकार अधिक ज्ञान-प्रसार की विशेषता है उसी प्रकार अधिक भाव-प्रसार की भी।

कवि-वाणी के प्रसार से हम संसार के सुख-दुःख, आनन्द क्लेश आदि स्वार्थमुक्त रूप रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बन्धान खुलता है और मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति होती है 'उपासना' भावयोग का ही एक अंग है। पुराने धार्मिक लोग उपासना का अर्थ 'ध्यान' ही लिया करते हैं। जो वर जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दर प्रतीत होती है उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्यवाले इसी को 'भावना' कहते हैं और अजकल के लोग 'कल्पना'। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है, उसकी प्रकार और भावों के प्रवर्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है। है। जिसकी भावना या कल्पना शिथिल या अशक्त होती है, किसी कविता या सरस उक्ति को पढ़-सुनकर उनके हृदय में मार्मिकता होते हुए भी वैसी अनुभूति नहीं होती।

कविता का अंतिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य-स्थापना है। इतने गम्भीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरंजन का हल्का उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते हैं, वे रास्ते ही में रह जानेवाले पथिक के समान हैं।

कविता अपनी मनोरंजन शक्ति द्वारा पढ़ने या सुननेवाले का चित्त रमाये रहती है, जीवन-पट पर उक्त कर्मों की सुन्दरता या विरूपता अंकित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है। मनुष्य के कुछ कर्मों में जिस प्रकार दिव्य सौन्दर्य और माधुर्य होता है, उसी प्रकार कुछ कर्मों में भीषण कुरूपता और भद्दापन होता है। इसी सौन्दर्य या कुरूपता का प्रभाव मनुष्य के हृदय पर पड़ता है और इस सौन्दर्य या कुरूपता का सम्यक् प्रत्यक्षीकरण कविता ही कर सकती है।

कविता केवल वस्तुओं के ही रंग-रूप में सौंदर्य की की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुखमंडल आदि का सौंदर्य मन में लाती है उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, प्रेमोत्कर्ष इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौंदर्य भी मन में जमाती है। जिस प्रकार वह शव को नोचते हुए कुत्तों और श्रृंगालों के वीभत्स व्यापार की झलक दिखाती है उसी प्रकार क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या आदि की कुरूपता से भी क्षुब्ध करती है।

सुन्दर और कुरूप-काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, अनुपयोगी उपयोगी- ये सब शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्य क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी । सब बातें केवल दो रूपों में

© 2025 प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

दिखाई जाती है-सुन्दर और असुन्दर। कवि की दृष्टि तो सौन्दर्य की ओर जाती है चाहे जहाँ हो-वस्तुओं के रूप-रंग में अथवा
मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में। उत्कर्ष साधन के लिए, प्रभाव की वृद्धि के लिए, कवि लोग कई प्रकार के सौन्दर्य का मेल भी किया करते हैं। राम की रूपमाधुरी और रावण की विकरालता भीतर का प्रतिबिम्ब सी जान पड़ती है। इसमें जो लो मनोरंजन को ही काव्य लक्ष्य समझते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूँढ़ा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊँचा और गम्भीर लक्ष समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते।
उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर रहती है। उसका अनूठापन भाव-विधान के बाहर की वस्तु नहीं।
कविता के इस चिन्तन भूमि पर खड़े होकर वे पूरे मनुष्य को साहित्य का केन्द्र मानते हैं और लोक चिन्ता, लोकधर्म, लोकजीवन, लोकहृदय, लोकादर्श को साहित्य की कसौटी, साहित्य की आत्मा। उनके अनुसार -

१. कविता ही मनुष्य के हृदय को लोकसत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है।

२. भाव-योग की सबसे उच्च कक्षा में पहुंचे हुए मनुष्य का जगत के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव-सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व हृदय हो जाता

३. गृह धर्म या कुल-धर्म से समाज-धर्म श्रेष्ठ है, समाज धर्म से लोक-धर्म और लोक धर्म से विश्व धर्म, जिससे धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण रूप में दिखाई पड़ता है।

४. सच्चा कवि वहीं है जिसे लोक हृदय की पहिचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।

५. मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसकी अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता का किसी कला का प्रायोजन और विकास होता है।
कहना न होगा कि शुक्ल जी के चिन्तन में द्विवेदी युगीन काव्यचिन्तन का संस्कार विद्यमान हैं तो संस्कृत काव्यशास्त्रियों की लोकवादी चेतना, जहाँ लोकज्ञान को महत्त्वपूर्ण प्रयोजन के रूप में मान्यता दी गयी थी। इसीलिए आनन्द एवं मनोरंजन को काव्य प्रयोजन का साधन मानते हैं, साध्य नहीं। उनके अनुसार, 'कविता की इसी रमाने वाली शक्ति को देखकर जगन्नाथ पण्डितराज ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा यूरोपीय समीक्षकों ने 'आनन्द' को ही काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अन्तिम गन्तव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि मन को अनुरंजित करना यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य मान लिया तो कविता केवल विलास की एक सामग्री की तरह हो जायेगी, जो उचित नहीं है। उनका कथन है, 'कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उनके उपरांत कुछ और भी होता और वही और सब कुछ है। और यह 'सब कुछ लोक अथवा विश्व मंगल है। उनके अनुसार -
'हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तः प्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।
'मनोभावों को समेटकर, हृदय को शेष सृष्टि से किनारे पर स्वार्थ की पशु-वृत्ति में लिप्त रहने से मनुष्य की मनुष्यता विनष्ट हो जाती है और उसका जीवन मरुस्थल की यात्रा बन जाता है। कविता ही उसकी भावात्मक सत्ता का प्रसार करती हुई उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा बनने से बचाती है।
इसीलिए शुक्लजी कविता की आवश्यकता इस रूप में रेखांकित करते हैं- 'मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य असभ्य जातियो ं में, किसी न किसी रूप में जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। शुक्लजी 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' नामक निबन्ध में समस्त काव्य को दो भागों में विभाजित करते हैं

१. आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले

२. आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले और आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य, जिसका उदाहरण रामायण, महाभारत, रामचरितमानस, पद्मावत है, इलियड, ओडसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट ऑफ इस्लाम है आनन्द की सिद्धावस्था के काव्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसकी दृष्टि में लोकधर्म का सौन्दर्य है, विरुद्धों का सामंजस्य है, कर्म का सौन्दर्य है। शुक्लजी का कथन है, कर्म सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि परम्परा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करने और कर्म-सौन्दर्य के एक दूसरे पक्ष में ही केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही-काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टालस्टाय के समय से चला है वह एकदेशीय है... मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष है, वैसे ही उनके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्षण, दो पक्ष है और बराबर रहेंगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।' इसीलिए शुक्लजी करुणा पर ज्यादा महत्त्व देते हैं एवं उसे साहित्य का महत्त्वपूर्ण भाव मानते हैं- 'भावों की छानबीन करने पर मंगल का विध गान करनेवाले दो भाव ठहरते हैं-करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती और प्रेम की रंजन की ओर । लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है। अत: साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीजभाव करुणा ही ठहरता है। '२२ टालस्टाय एवं कलावादियों को वे इसीलिए आलोचना भी करते हैं, क्योंकि कला न तो मात्र प्रेमभाव है और न ही मात्र प्रचण्ड भावों के विधान में निहित है, बल्कि साहित्य में भावों की अनेकरूपता का विन्यास आवश्यक है। शेली एवं संतकवियों को इसीलिए शुक्लजी महत्त्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि 'शेली ने भी काव्यकला का मूलतत्त्व प्रेमभाव ही माना था, पर अपने को सुख-सौन्दर्यमय माधुर्यभाव तक ही बद्ध न रखकर प्रबन्ध क्षेत्र में भी अच्छी तरह घुसकर भावों की अनेकरूपता का विन्यास किया था। स्थिर (Static) सौन्दर्य और गत्यात्मक (Dynamic) सौन्दर्य, उपभोग पक्ष और प्रयत्न पक्ष दोनों उनमें पाये जाते हैं। '२३ इसीलिए शुक्लजी के लिए साहित्य जनता की

© 2025 प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब हैं। मैथ्यू अर्नाल्ड ने भी कहा था कि कविता या कला जीवन की ही आलोचना है। रिचर्ड्सस ने भी स्वीकार किया है, 'हमारा कहना यही है कि यही भीतरी लगाव असल चीज है। जो कुछ काव्यानुभव (पोयटिक एक्सपीरियन्स) होता है, वह जीवन से ही होकर आता है। काव्य-जगत् की शेष जगत् से भिन्न कोई सत्ता नहीं है और न उसके कोई अलौकिक या विशेष नियम हैं।' शुक्लजी ने भी रिचर्ड्स की तरह ही कलावाद एवं रीतिवाद पर प्रहार किया और उसके सौन्दर्यवादी-भाववादी आधारों का खण्डन पूरी शक्ति एवं विवेक के साथ किया। शुक्लजी का कथन है, 'कुछ लोगों का यह ख्याल है कि काव्यानुभूति एक और ही प्रकार की अनुभूति है, उसका प्रत्यक्ष या असली अनुभूति से कोई संबंध ही नहीं, या तो यह कोई ख्याल ही नहीं, या गलत है। काव्यानुभूति (एस्थेटिक मोड आरस्टेट) एक निराली ही अनुभूति है, इस मत के कारण यूरोपीय समीक्षा क्षेत्र में बहुत सा अर्थ शून्य वाग्विस्तार बहुत दिनो से चला आ रहा है। इस मत की असारता आई०ए० रिचर्डस ने अपने 'प्रिन्सिपल आव लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में अच्छी तरह दिखाई है।' 'काव्य में अभिव्यंजनावाद निबन्ध में भी उन्होंने 'कला कला के लिए सिद्धान्त का खण्डन किया है। शुक्लजी के अनुसार 'यूरोप में जिस प्रकार का इधर सबसे अधिक फैशन रहा है, वह है- 'काव्य का उद्देश्य काव्य ही है' या 'कला का उद्देश्य कला ही है'। इस प्रवाद के कारण जीवन और जगत की बहुत सी बातें, जिसका किसी काव्य के मूल्य के निर्णय में बहुत दिनों से योग चला आ रहा था, यह कहकर टाली जाने लगीं कि ये इतर वस्तुएं है', शुद्ध कला के क्षेत्र के बाहर की अवस्थाएं हैं। आचार्य शुक्ल साहित्य को न तो जीवन से पृथक मानते हैं और न ही जीवन को साहित्य से। शुक्लजी का कथन है, 'अब हमारे यहाँ के सम्पूर्ण काव्य क्षेत्र की अन्तः प्रकृति की छानबीन कर जाइए, उसके भीतर जीवन के अनेक पक्षों और जगत के नाना रूपों के साथ मनुष्य हृदय का गूढ़ सामंजस्य निहित मिलेगा। साहित्य शास्त्रियों का मत लीजिए - 'जैसे सम्पूर्ण जीवन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का साधन रूप है, वैसे ही उसका एक अंग काव्य भी है।' इसीलिए वे कलावाद, अभिव्यंजनावाद, अन्तश्चेतनावाद, व्यक्तिवैचित्र्यवाद, प्रतीकवाद, संवेदनावाद टालस्टाय के आदर्शवाद का विरोध तो करते ही हैं, वक्रोक्तिवाद, चमत्कारवाद की भी आलोचना करते हैं। क्योंकि शुक्लजी का काव्यचिन्तन जीवनानुभूति एवं काव्यानुभूति की एकता पर टिका हुआ है। आचार्य शुक्ल का कथन है- 'आनन्द विधान के लिए लोक के बाहर जाना, चाहे वह घट के भीतर हो, चाहे क्षितिज के पार, एक प्रकार का पलायनवाद ही है। जिस प्रकार समस्त भूतों में एक ही आत्मतत्त्व की सत्ता मान्य है, वैसे ही मानवमात्र में एक ही सामान्य हृदय की सत्ता भी मान्य होनी चाहिए। इस सामान्य हृदय का उद्‌घाटन करके कवि अभेदवाद का समर्थन करता है। जिस प्रकार मुक्त आत्मा समस्त विश्व में एक ही आत्मा का दर्शन करती है, उसी प्रकार मुक्त हृदय समस्त गोचर जगत् में एक ही सामान्य हृदय का प्रसार देखता है सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव करना ही काव्य का चरमलक्ष्य है। और यही सहृदय होने की कसौटी भी है।

वे कला को जीवन मानने वाले अरस्तू, लांजाइनस, लॉक, रूसों, काँट, शेलिंग, हीगल, शोपेनहावर, ह्यूम, मिल, डारविन, स्पेन्सर, शेली, टेनीशन, बसवर्थ, न्यूमैन, रस्किन, आर्नोल्ड, टाल्सटाय, डंटन, सेण्ट्सबरी, एम्बर क्राम्वी, बर्स, फोल्ड, मिल्टन तथा रिचर्ड्स से अपनी शर्तों पर जुड़े हैं और उनसे उतना ही ग्रहण करते हैं, जो उनके लोकादर्श के अनुकूल हैं। वे कलावाद, अन्तश्चेतनावाद, रहस्यवाद को साहित्यविरोधी मानते हैं तो क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को अपर्याप्त एवं सीमित मानते हैं क्योंकि इसमें रूप (Form) को ही महत्त्व दिया गया है, उक्ति को ही सब कुछ मान लिया गया है, एवं मार्मिक रूप विधान के स्थान पर अप्रस्तुत रूप विधान को महत्त्व दिया गया है, प्रेमसम्बन्धी प्रगीत मुक्तकों को महत्त्व दिया गया है, आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है तथा समालोचना भी हवाई हो गयी है। जबकि शुक्लजी ने विभाव पक्ष की प्रधानता पर बल दिया, दृश्य चित्रण में बिम्ब-ग्रहण कराने वाली शैली के महत्त्व का प्रतिपादन किया, प्रकृति को काव्य का स्वतंत्र विषय मानकर उसे आलम्बन रूप में चित्रित करने की हिमायत की, असाधारणत्व दर्शन की रुचि का निषेध किया। उनके अनुसार कविता सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, गोचरजगत् से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं । अज्ञात की लालसा कोई भाव नहीं है, इसीलिए रहस्यवादी कविताओं में अव्यक्त के प्रति जो प्रेम व्यंजना की जाती है, उसमें भावों की सच्चाई का अभाव तो रहता ही है, उसकी व्यंजना भी कृत्रिम होती है।

इसीलिए अव्यक्त के प्रति जो प्रेम-प्रदर्शन होता है, वह काव्य की प्रकृति के बाहर की चीज है, उन्होंने स्पष्टतः कहा, 'अध्यात्म शब्द की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।

काव्य हेतु

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कवयहेतुओं में संस्कृत काव्यशस्त्रियों की भाँति ही प्रतिभा–व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को स्वीकार किया है, किन्तु प्रतिभा को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। उनके अनुसार, काव्य में भाषा की प्रगल्भता, रचना रचना की सरसता और शब्दों के चुनाव एवं प्रयोग में स्वच्छन्दता को वे प्रतिभा का ही परिणाम मानते हैं।' और उनकी दृष्टि में प्रतिभा का स्वरूप है-प्रतिभा से मेरा अभिप्राय अन्तःकरण की उस उद्भाविका क्रिया से है, जिसके द्वारा कला, विज्ञान, आदि नाना क्षेत्रों में नई-नई बातें या कृतियाँ उपस्थित की जाती हैं। भट्टतीत ने भी लिखा था कि 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता । कला नैपुण्य में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास दोनों ही समाहित हैं और सहृदयता कवि-प्रतिभा का ही एक अंग है। शुक्लजी का कथन है, 'प्राचीन कवियों में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तानों तथ्य रहते थे किन्तु आजकल किसी में प्रतिभा है तो उसमें कला नैपुण्य नहीं है और यदि किसी में कला नैपुण्य है तो उसमें प्रतिभा नहीं है।" इस प्रकार शुक्लजी के अनुसार प्रतिभा के अभाव में काव्य का ढाँचा मात्र खड़ा हो सकता है उसमें प्राण प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती है तो कला निपुणता के अभाव में गहरी अनुभूति और भावुक सहृदयता या प्रतिभा सम्पन्न होते हुए भी काव्य का यथार्थ ढाँचा खड़ा होना मुश्किल हो जाता है, 'जिसके परिणामस्वरूप बहुत से प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति भी जन्म भर मूक कवि बने रह जाते है। समग्रतः शुक्ल जी प्रतिभा को अनिवार्य हेतु मानते हुए भी व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को कला निपुणता के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु शुक्लजी प्रतिभा मात्र को पर्याप्त नहीं मानते। उनके अनुसार 'कवि के लिए कला निपुणता तथा सहृदयता दोनों का एक साथ होना आवश्यक है। इन्दौर वाले भाषण में आचार्य शुक्ल का कथन है, 'प्रस्तुत पक्ष का रूपविधान भी कवि की प्रतिभा द्वारा ही होता है। भाव की प्रेरणा से नान रूपसंस्कार जग पड़ते हैं, जिनका अपनी प्रतिभा या कल्पना द्वारा समन्वय करके कवि प्रस्तुत वस्तुओं या तथ्यों का एक मार्मिक दृश्य खड़ा करता है। काव्य में प्रतिभा या कल्पना द्वारा समन्वय करके कवि प्रस्तुत वस्तुओं या तथ्यों का एक मार्मिक दृश्य खड़ा करता है। काव्य में प्रतिभा या कल्पना का मैं यह पहला काम समझता हूँ। शुक्लजी प्रतिभा और कल्पना को भारतीय परम्परा के अनुसार एक

© 2025 प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

मानते हैं, तभी तो कल्पना का कार्य रेखांकित करते हुए कहते हैं, 'कल्पना का काम है आँखों के समक्ष मूर्ति या चित्र प्रस्तुत करना। साहित्य वाले इसी को भावना कहते हैं और आजकल के लोग कल्पना।' इस प्रकार शुक्लजी की दृष्टि में कवि के लिए 'भावुकता' और 'कल्पना' दोनों ही अनिवार्य हैं। उनका कथन है कि 'भावुक जब कल्पना सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है तभी कविता होता है दोनों गुणों की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए भी वे कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता को ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में कल्पना उसकी (भावुकता की) सहयोगिनी है। किन्तु फिर भी वह ऐसी सहयोगिनी है, जिसके बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा ही नहीं सकता। इस प्रकार भावुकता कल्पना की प्रेरिका सिद्ध होती है। किन्तु कल्पना भावुकता की सहयोगिनी है, प्रेरिका नहीं । शुक्लजी का स्पष्ट कथन है कि काय कल्पना की क्रिया कवि की भावुकता के अनुरूप होती है। कविता अपनी भावुकता की तुष्टि के लिए ही कल्पना को रूप-विधान में प्रवृत्त करता है। उनकी दृष्टि में भावुकता भी सर्वथा स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि 'ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार होता है। शुक्लजी का मत है कि 'रस-काल के भीतर भाव और कल्पना का युगपद अन्योन्याश्रित व्यापार होता है।

अतः काव्य में इनमें से कौन प्रधान है, इस प्रश्न का कोई सीधा उत्तर नहीं दिया जा सकता है। उनका कथन है कि श्रोता या पाठक की दृष्टि से विचार करने पर उसमें सहृदयता या भावुकता अधिक अपेक्षित होती है, कल्पना क्रिया कम किन्तु कवि की दृष्टि से विचार करने पर कवि कर्म में कल्पना की बहुत आवश्यकता होती है।

शुक्ल जी की दृष्टि में भावानुरूपता की कल्पना की कसौटी है। साधारण व्यवहार में भी लोग जोश में आकर कल्पना का जो व्यवहार करते हैं वह भी भावानुरूप होने पर ही उचित कहला सकता है। शुक्लजी का मत है कि 'कल्पना की सारी रूप-सामग्री बाह्य जगत की ही होती है। कल्पना उसकी केवल तरह-तरह की योजना किया करती है यदि कोई मनुष्य जन्म से ही एक घर में बन्द रखा जाय, तो उसकी कल्पना में दीवारों और खम्भों के सिवा और कुछ नहीं आ सकता है। अतः उनकी दृष्टि में बाह्य गोचर जगत् ही कल्पना का स्रोत ठहरता है। इस प्रकार शुक्लजी कल्पना के निम्नलिखित कार्य मानते हैं-

१. शुक्लजी के मतानुसार काव्य वस्तु का सारा रूप विधान इसी की क्रिया से होता है।

२. सारा रूप-विधान कल्पना ही करती है अत: अनुभाव कहे जाने वाले व्यापारों और चेष्टाओं द्वारा आश्रय को जो रूप दिया जाता है, वह भी कल्पना द्वारा ।

३. वचनों द्वारा भाव व्यंजना के क्षेत्र में भी कल्पना को पूरी स्वच्छन्दता रहती है।

४. मात्र प्रस्तुत की योजना में नहीं, अप्रस्तुत की योजना भी कल्पना ही द्वारा होती है।

५. अलंकार विधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है। इस प्रकार कल्पना का प्रयोग क्षेत्र अत्यन्त व्यापक ठहरता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही रूप-विधानों में कल्पना का प्रयोग होता है। उन्होंने लिखा है- 'जिस प्रकार विभाव, अनुभाव आदि में हम कल्पना का प्रयोग पाते हैं, उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में भी। किन्तु काव्य में रस के प्राधान्य के कारण उनका मत है कि उसके संयोजकों में लिपना का जो प्रयोग होता है वही आवश्यक और प्रधान होता है। निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत रूप- विधान ही कल्पना के प्रयोग का प्रमुख क्षेत्र होता है, अप्रस्तुत रूप-विधान गौण। प्रस्तुत रूप-विधान के अन्तर्गत कल्पना का 'सबसे बड़ा कार्य क्षेत्र विभावन व्यापार होता है, क्योंकि विभावन व्यापार द्वारा ही रस का आधार खड़ा होता है।

शुक्लजी के मतानुसार कल्पना दो प्रकार की होती है-विधायक और ग्राहक । कवि में विध गायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक। अन्यत्र उन्होंने 'स्मृत्याभास' नाम की एक अन्य कल्पना का उल्लेख किया है जो अतीत की कल्पना होती है, जिसका आधार आप्त शब्द (इतिहास) होता है अथवा शुद्ध अनुमान। उनका कथन है कि 'अतीत की कल्पना भावुकों में स्मृति की सी सजीवता प्राप्त करती है और कभी-कभी अतीत का कोई बचा हुआ चिह्न पाकर प्रत्यभिज्ञान का-सा रूप ग्रहण करती है।' उनकी दृष्टि में ऐसी कल्पना सत्य का आधार लेकर खड़ी होती है। अतः अत्यधिक मार्मिक होती है।

आई० ए० रिचर्ड्स ने कल्पना की ६ स्थितियाँ बताई है-

१. दृश्यगम प्रतिभा को उत्पन्न करना अर्थात् प्रज्ञाचक्षुओं के समक्ष लाना कल्पना की प्रथम एवं साधारणतम स्थिति है।

२. कल्पना की दूसरी स्थिति है 'अलंकार अथवा अप्रस्तुत विधान में उसका प्रयोग जो प्रमुखतः साम्य भावना पर आधारित होता है।

३. कल्पना की तीसरी स्थिति है 'पाठक की ग्रहण शक्ति के अर्थ में उसका प्रयोग।

४. कल्पना की चौथी स्थिति है 'आविष्कार के अर्थ में उसका प्रयोग।

५. कल्पना की पाँचवीं स्थिति है 'रिक्त स्थानों की पूर्तिकत्री के रूप में। इसके अनुसार लुप्त पर सम्बन्धों की स्थापन भी उसका एक कार्य है।

६. कल्पना की छठीं स्थिति 'सृजनात्मक रूप में है। इसे ही कालरिज ने समन्वय और जादू की शक्ति कहा है और परस्पर विरोधी अथवा असम्बद्ध गुणों का एक-दूसरे के साथ संतुलन अथवा समन्वय इसका गुण बताया है। प्रो०रिचर्ड्स के मतानुसार काव्य में कल्पना का अन्तिम और सशक्त प्रयोग इसी सर्जनात्मक रूप में ही होता है।

आचार्य शुक्ल के कल्पना-विवेचन में कल्पना की इन सभी स्थितियों का स्पष्ट उल्लेख यत्र तत्र प्रसंगवश हुआ है, यद्यपि वह रिचर्ड्स के विवेचन की भाँति क्रमबद्ध अथवा सुश्रृंखलित नहीं है। आचार्य शुक्ल की कल्पना सम्बन्धी दृष्टि पाश्चात्य विचारणा पर आधृत एवं पर्याप्त सीमा तक श्री कालरिज एडिसन और रिचर्ड्सस के कल्पना-विवचेन से प्रभावित है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। इसकी पुष्टि इस बात से और भी होता है कि उन्होंने 'कल्पना' शब्द का ही अधिक प्रयोग अपने काव्य विवेचन में प्रतिभा के स्थान पर किया है जब कि भारतीय काव्य-

© 2025 प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

विचारणा का प्रतीक एवं प्रतिनिधि शब्द इस सम्बन्ध में प्रतिभा ही है कल्पना नहीं।

किन्तु कल्पना जो उपासना, ध्यान एवं भावना है साधन है, साध्य नहीं । शुक्ल जी ने स्पष्ट लिखा है कि, 'यह काव्य का अनिवार्य साधन है, पर है साधन ही साध्य नहीं।' कवि कर्म के लिए मूल तत्त्व काव्यानुभूति है और कल्पना की भूमिका सहयोगिनी की है, किन्तु यह ऐसी सहयोगिनी है जिसके बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा ही नहीं सकता। रहस्यवादी कवि बिलियम ब्लेक ने कल्पना को नित्य एवं असीम माना था, शुक्ल जी इसे स्वीकार नहीं करते, शुक्ल जी का कथन है, 'यह तो प्रत्यक्ष बात है कि कल्पना के भीतर जो कुछ रहता है या आता है वह प्रकति के ही विशाल क्षेत्र से प्राप्त होता है। अतः जब तक हम किसी 'वाद' का सहारा न लें तब तक कहेंगे कि कल्पना में आये हुए रूप ही प्रकृति के नाना रूपों के प्रतिबिम्ब हैं, प्रकृति के रूप कल्पना के प्रतिबिम्ब नहीं। इस प्रकार शुक्लजी की मान्यता में कल्पना की नित्यता का सिद्धान्त काव्य के प्रकृत क्षेत्र के बाहर का सिद्धान्त है, क्योंकि कविता में आध्यात्म की कोई जगह नहीं। शुक्ल जी की दृष्टि में 'कल्पना काव्य का बोध पक्ष है। कल्पना में आयी हुई रूप-व्यापार- योजना का कवि या श्रोता को अंत: साक्षात्कार या बोध होता है। पर इस बोध पक्ष के अतिरिक्त काव्य का भावपक्ष भी है । यह भावपक्ष शुक्ल जी के काव्यचिन्तन का महत्त्वपूर्ण आयाम है। शुक्ल जी के अनुसार भावों को जागृत एवं दीप्त करने के लिए विभाव और अनुभाव की योजना करनी पड़ती है जो कल्पना के माध्यम से पूरा होता है।

रसविवेचन एवं साधारणीकरण

आचार्य शुक्ल रस, को काव्य का सर्वोपरि तत्त्व मानते हैं और रसदृष्टि को ही काव्य एवं साहित्य के मूल्यांकन का प्रतिमान मानते थे और रस की तीन कोटियाँ मानते हैं। रस की सर्वोच्च स्थिति आश्रय के साथ तादात्म्य की है, तो मध्यकोटि के अन्तर्गत 'रसभाव' हैं, जिसके अन्तर्गत भावोदय, भावसन्धि, भाव-शबलता, भावशान्ति, भावदशा, शीलदशा, तथा विभावानुभाव सहित संचारी भावों के स्वतंत्र वर्णन हैं। शुक्लजी रस की निकृष्ट कोटि भी स्वीकार करते हैं, जिसके अन्तर्गत चमत्कारवृत्ति एवं कौतूहल वृत्ति को स्थान देते हैं। इसीलिए उनका रस न तो 'ब्रह्मानन्दस्वाद-सहोदर' है और न ही अभिनवगुप्त की तरह अलौकिक भूमि पर स्थित है और न ही आनन्द का पर्याय है, बल्कि लौकिक है। वे अपने रस विवेचन में हैकेल की 'द रिडल यूनिवर्स' एवं आई०ए० रिचर्ड्स की विचारधारा से प्रभावित तो हैं, किन्तु वे अपनी लोकवादी चिन्ताओं एवं नैतिक - सामाजिक मूल्यबोध भावबोध के कारण रस को लोकहृदय से जोड़ देते हैं। उनका कथन है, 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त एवं अवदात्त रूप है।' इसीलिए उन्होंने रस को परिभाषित करते हुए लिखा है –

> 'हृदय की अनुभूति ही साहित्य में 'रस' और 'भाव' कहलाती है। '
> 'लोकहृदय' में लीन होने की दशा का नाम रस दशा है। '
> हृदय के प्रभावित होने का नाम ही रसानुभूति है'।

रामचन्द्र तिवारी ने ठीक ही लिखा है कि 'शुक्लजी की दृष्टि में 'हृदय की मुक्तावस्था 'प्रभावित होने की दशा', 'लोकहृदय में लीन होने की दशा', और 'अनुभूति दशा लगभग एक ही है। इस मनोदशा तक पहुँचना ही काव्य का चरम लक्ष्य है। शुक्लजी रस को आनन्दस्वरूप नहीं मानते क्योंकि रस सुखात्मक एवं दुःखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। जैन आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी 'सुखः दुखात्मकोरसः' कहा था। शुक्ल जी का भी कथन है-सुःख और दुःख दोनों रसात्मक हो सकते हैं और होते हैं, उसके लिए आवश्यक यही है कि हृदय मुक्तावस्था में हो ।' इसीलिए शुक्ल जी रस दशा को हृदय की आनन्दमयी स्थिति न कहकर 'हृदय की मुक्तावस्था' कहते हैं। इस दशा में निर्वैयक्तिकीकरण हो जाता है। शुक्लजी ने लिखा है कि 'रस में अपनी पृथकसत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्त्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योगक्षेम वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते। उसी को पाश्चात्य-समीक्षा पद्धति में अहं का विसर्जन और निस्संगता (इम्पर्सोनेलिटी एण्ड डिटैचमेंट) कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानंद सहोदरत्व कहिए चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व । इस प्रकार शुक्लजी की दृष्टि में रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण हैं-

१. अनुभूति काल में अपने व्यक्तित्त्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार

२. किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।

रिचर्ड्स ने भी कहा है कि एस्थेटिक एक्सपीरियन्स में वैयक्तिक लोकगत सम्बन्धों का परिहार हो जाता है। शुक्लजी भी कविता का कार्य भावप्रसार मानते हैं, जो 'कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का विस्तार' करती है। शुक्लजी ने 'कविता क्या है' निबन्ध में लिखा है कि कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे मनुष्य का जगत के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा का उसके हास-विलास में जगत के आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।' और यही दशा रसानुभूति की होती है, जो मानसिक रूप विधान से सम्पन्न होती है। शुक्लजी के अनुसार यह मानसिक रूप विधान तीन प्रकार का होता है- (१) प्रत्यक्ष रूप विधान, (२) स्मृति रूप विधान, (३) ललित रूप विधान । तीनों प्रकार के रूपविधानों में भावों को इस रूप में जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रस-कोटि में आ सकें, यही शुक्लजी की मूल प्रस्थापना है।

कल्पित रूप विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति तो सर्वत्र रसानुभूति मानी जाती है, किन्तु प्रत्यक्ष या स्मृति द्वारा जागरित अनुभूति को रसात्मक कोटि में पूर्ववर्ती विद्वानों ने नहीं माना है, किन्तु शुक्लजी की स्थापना है कि 'प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है।' उनकी यह स्थापना सतर्क और साधार है, तर्कहीन पूर्वाग्रह नहीं। उन्होंने रसात्मक त्मक अनुभूति के लक्षणों को प्रत्यक्ष बोध से सम्बद्ध वास्तविक अनुभूतियों पर घटित कर दिखाया है। वस्तुतः यह विषय विवादास्पद है। आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्यानुभूति या काव्या स्वाद को ही रसात्मक या रस माना है, प्रत्यक्षानुभूति या प्रत्यक्षास्वाद को नहीं।

जहाँ तक साधारणीकरण का प्रश्न है आचार्य शुक्ल ने अपनी कृति चिन्तामणि, भाग १. के 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद' शीर्षक निबन्ध और 'रस मीमांसा' में गरणीकरण का का विवेचन किया है।

© 2025 प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

उनके इस विवेचन का सैद्धान्तिक महत्त्व तो है ही, पर साथ ही साथ इसका एक विशिष्ट ऐतिहासिक मूल्य भी है। कारण यह है कि उन्होंने इस सिद्धांत का विवेचन एक ऐसे युग में किया जिसमें गम्भीर सैद्धान्तिक विवेचन की परम्परा शताब्दियो से अवरुद्ध थी। डॉ० नगेन्द्र ने ठीक लिखा है कि पण्डितराज के बाद गम्भीर शास्त्रीय विवेचन का क्रम प्रायः समाप्त ही हो गया। हिन्दी के रीति-कवियों का अनुराग काव्य शास्त्र के रोचक एवं सरल प्रसंगों तथा कवि-शिक्षा तक ही सीमित रहा-साधारणीकरण आदितात्विक विषयों के प्रति उनके मन में कोई आकर्षण न था।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में उनका मत है कि 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। यहाँ 'सब के उसी भाव का आलम्बन' हो सकने की बात से यह सुस्पष्ट है कि शुक्ल जी रस-निष्पत्ति को अनुकार्य और अनुकर्ता तक ही सीमित न रख उसे सामाजिकों तक लाना आवश्यक मानते हैं। सच तो यह है कि वे इसे ही प्रमुखता प्रदान करते हैं। उनके उक्त कथन के अनुसार सामाजिक - गम्यता ही पूर्ण रसोद्बोधन अथवा रसात्मकता की और इसी कारण साथ गरणीकरण की भी एकमात्र कसौटी है।

उनकी दृष्टि में साधारणीकृत होने के लिए 'आलम्बन' में लोकधर्म की प्रतिष्ठा के कोई भी आलम्बन लोक का आलंबन नहीं बन सकता। अतः साधारणीकरण में शुक्लजी की दृष्टि में केन्द्रीय वस्तु है, आलम्बन का लोकधर्मी स्वरूप।' शुक्लजी ने लिखा है कि, 'साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित भाव में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ होता है।

सन्दर्भ

1. शुक्ल रामचन्द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०२०. पृ. ५०९।
2. शुक्ल रामचन्द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०२०. पृ. ५१०।
3. शुक्ल रामचन्द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०२०. पृ. ५१०।
4. शुक्ल रामचन्द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०२०. पृ. ५१०।
5. शुक्ल रामचन्द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०२०. पृ. ५१०-५११।
6. शुक्ल Ramchandra. हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०२०. पृ. ३९।
7. शुक्ल रामचन्द्र. रसमीमांसा. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ७४-७५।
8. शुक्ल रामचन्द्र. रसमीमांसा. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ७५।
9. शुक्ल रामचन्द्र. रसमीमांसा. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ७५।
10. शुक्ल रामचन्द्र. रसमीमांसा. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ७५-७६।
11. शुक्ल रामचन्द्र. रसमीमांसा. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ७६।
12. शुक्ल रामचन्द्र. रसमीमांसा. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ७७।
13. शुक्ल रामचन्द्र. रसमीमांसा. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ७८।
14. शुक्ल रामचन्द्र. रसमीमांसा. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ७९।
15. शुक्ल रामचन्द्र. रसमीमांसा. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ७९।
16. शुक्ल रामचन्द्र. कविता क्या है. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१८. पृ. १०२।
17. शुक्ल रामचन्द्र. कविता क्या है. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१८. पृ. १०२।
18. शुक्ल रामचन्द्र. कविता क्या है. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१८. पृ. १०२।
19. शुक्ल रामचन्द्र. कविता क्या है. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१८. पृ. १०२।
20. शुक्ल रामचन्द्र. कविता क्या है. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१८. पृ. ५०।
21. शुक्ल रामचन्द्र. काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१८. पृ. १४७।
22. शुक्ल रामचन्द्र. काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१८. पृ. १४२।
23. शुक्ल रामचन्द्र. काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१८. पृ. १४३।
24. शुक्ल रामचन्द्र. काव्य में रहस्यवाद. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१८. पृ. ४९।
25. शुक्ल रामचन्द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०२०. पृ. ५४२।
26. शुक्ल रामचन्द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०२०. पृ. ५४४।
27. तिवारी रामचन्द्र. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन; २०१७।
28. शुक्ल रामचन्द्र. काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१८. पृ. १४३।
29. शुक्ल रामचन्द्र. चिन्तामणि. भाग-२. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. २१४।
30. शुक्ल रामचन्द्र. चिन्तामणि. भाग-२. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. २१०।
31. शुक्ल रामचन्द्र. चिन्तामणि. भाग-२. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. १००।
32. शुक्ल रामचन्द्र. सरस्वती. १९१४;५(६):१८९।
33. शुक्ल रामचन्द्र. चिन्तामणि. भाग-१. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. २५७।
34. शुक्ल रामचन्द्र. चिन्तामणि. भाग-२. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ११६।
35. शुक्ल रामचन्द्र. चिन्तामणि. भाग-२. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ११६।

© 2025 प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

36. शुक्ल रामचन्द्र. रसमीमांसा. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ३०८।
37. शुक्ल रामचन्द्र. चिन्तामणि. भाग-१. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. २५३।
38. तिवारी रामचन्द्र. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन; २०१७. पृ. ५१।
39. शुक्ल रामचन्द्र. चिन्तामणि. भाग-१. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. २५१।
40. शुक्ल रामचन्द्र. चिन्तामणि. भाग-१. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ४४७।
41. शुक्ल रामचन्द्र. चिन्तामणि. भाग-१. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. २४९।
42. शुक्ल रामचन्द्र. चिन्तामणि. भाग-१. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. २२७।
43. शुक्ल रामचन्द्र. रसमीमांसा. वाराणसी: नागरी प्रचारिणी सभा; २०१९. पृ. ९९।

Creative Commons (CC) License

This article is an open-access article distributed under the terms and conditions of the Creative Commons Attribution (CC BY 4.0) license. This license permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original author and source are credited.

© 2025 प्रो. दीपक प्रकाश त्यागी. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/